त्यौहार का तर्क

प्रफुल्ल कोलख्यान

किसी भी वस्तु और अवसर का महत्त्व उसके साथ अपने संबंध के आधार पर ही तय होता है। शादी-ब्याह के दिनों में गाँव के लोगों की व्यस्तता बढ़ जाती है। बाजार में खरीद-बिक्री में उछाल आता है। इस समय को लगन कहते हैं। इस लगन काल में लोग एक-दूसरे से पूछते हैं कि सब बाराती कितना मन? जानकार के लिए यह सवाल अनुस्मरण होता है जो नहीं जानते हैं उनके लिए यह फैल कर विस्मय हो जाता है। पहली बार जब मैंने यह सवाल करते हुए एक आदमी को सुना था और जवाब में दूसरे आदमी को मुस्कुराते हुए देखा तो समझ में कुछ नहीं आया। न सवाल का जवाब न मुस्कुराने का अर्थ। देर तक विस्मय और उलझन में फँसा रहा। बाद में एक साथी ने बताया कि सब बाराती तीन मन होता है। पहला मन दुल्हा का, जिसमें होनेवाली दुल्हन रहती है। दूसरा मन समधी का होता है जिसमें मान-सम्मान और लेन-देन रहता है। तीसरा मन समाज का होता है जिसमें खान-पान का खाका रहता है।

इसी प्रकार त्यौहार भी कई मन का होता है। कितने मन का होता है? यह समझने की बात है। बचपन के लिए इसका बहुत अधिक महत्त्व होता है। यह बात अलग है कि विनोदकुमार शुक्ल की कविता बताती है कि अब बच्चे भी सिद्धार्थ नहीं बुद्ध होते हैं! मन चाहे जितना दरका हुआ क्यों न हो फिर भी जीवन में त्यौहार का अपना महत्त्व है। हर त्यौहार के पीछे संघर्ष और संतोष, आकांक्षा और उपलब्धि की तरल कथाएँ होती हैं। काव्य का उदात्त मनोभाव होता है। त्याग और बलिदान का गान होता है। जीवन के उल्लास का अपना सहज उठान होता है। देव-पित्तर के साथ ही उन शक्तियों के प्रति आभार होता है जिन्हें मनुष्य ठीक-ठीक लक्षित तो नहीं कर पाता है लेकिन जिनके सहयोग के बिना मनबांछित के हासिल होने के प्रति आश्वस्त भी नहीं हो पाता है। इस प्रकार मनुष्य श्रेय बाँटने का शील अर्जित करते हुए अपने आचरण को मानवीय श्रेष्ठता के गुणों से संयुक्त करने का प्रयास करता है। कुछ चमत्कारी लोग इस स्वाभाविक उठान को अपनी अन्य बांछा की पूर्त्ति के लिए उत्थान की परिधि में और फिर इसे पुनरुत्थान के रहस्यमय कटघरे में घेरने का प्रयास करते रहते हैं। कुल मिलाकर यह कि त्यौहार संघर्ष और संतोष, आकांक्षा और उपलब्धि की अंतराल-भूमि पर वह बाग बनकर आता है जहाँ मनुष्य अपनी पीठ पर से सुख-दुख समेत उपलब्धियों की गठरी को उतार कर अपनी आँख में सपनों के पुनर्भव होने के एहसास को प्राणवायु के झोंकों पर पसार कर सुखाने और सुलझाने का अवसर पाता है। इस प्रकार, त्यौहार का मनुष्य के सामाजिक जीवन में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। चारो तरफ खुशियों का माहौल होता है। लोग-बाग प्रसन्न और खिले-खिले लगते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि दुख को फटक कर जीवन से दूर कर दिया गया है। अब कहीं दुख का अस्तित्व नहीं रह गया है। जैसे सभ्यता अपने को सही करने के हुलास में हो। दुख फिर भी बचा रहता है, अपने पंजों को सिकोड़े जीवन तथा मन के किसी कोने में दुबका हुआ।

अपने स्कूली जीवन में एक बार भिन्न प्रकार से इस संदर्भ के निबंध लिखने के कारण पड़ी फटकार की याद मुझे अभी भी है। साहित्य को पाठ्य-क्रम में रखने का मतलब तो यही हो सकता है कि व्यक्तित्व के विकास में अभिव्यक्ति की शैली और क्षमता का भी योग हो। छात्र अपने विकासमान व्यक्तित्व के कथ्य को बेहतरीन और प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त कर पाये। सामाजिकता की शुरूआत अभिव्यक्ति की शुरूआत से ही होती है। इस अभिव्यक्ति में कल्पना की उड़ान के लिए भी पर्याप्त अवकाश होता है और अपने-अपने मन-दर्पण में अपने समय के एक ही विस्तार को अपने-अपने ढंग से समा लेने की भी पूरी गुंजाइश होती है। यहीं कहीं आस-पास वह मौलिकता विरमती है जिसे हम किसी का निजी कहते हैं। कई बार लगता है कि साहित्य में मौलिकता बिंब का नहीं प्रतिबिंब का गुण है। बिंब तो सामान्य होता है उसका प्रतिबिंब विशिष्ट होता है। विविध पृष्ठभूमि और सामाजिक समूहों के पास अपना जो बिंब होता है वह दरअस्ल आवर्त्ती सामाजिकता के बिंब का प्रतिबिंब ही होता है। साहित्य के पाठ्यक्रम के अंतर्गत प्रतिबिंब के प्रतिबिंब को रचने की छूट पर इस या उस कारण और उपकरण से प्रतिबंध लगाने या हतोत्साह करने से साहित्य को पाठ्यक्रम में शामिल रखने की प्रयोजनीयता की हत्या ही होती है।

किसी को गाते हुए सुनकर गाने, नाचते हुए देखकर नाचने और किसी के रचे हुए को पाकर रचने लग जाना ही उसकी सफलता है। अनु-गायन, अनु-नृत्य और अनु-रचना का सृजन की सहभागिता में अपना महत्त्व है। सफल रचना इसके लिए अपने अंदर समुचित संदेश (स्पेस) भी रचती चलती है। इसी संदेश में नई और महत्त्वपूर्ण रचना अंखुआती है। बिंब और प्रतिबिंब के अद्‌भुत धूप-छाँही खेल में ही मन की कुमुदनी और सूरजमुखी का सह विकास होता है। सामाजिकता की विभिन्नताओं के बावजूद अगर मनुष्य की एकता का कोई आधार बनता है तो वह एक को अनेक और अनेक को एक रूप में देखे जाने और आत्मसात कर सकने की संभावना के आधार पर ही बनता है। हमारा सांस्कृतिक अनुभव बताता है कि सामाजिक संघर्ष का अधिकांश प्रतिबिंब के परिवर्त्तन पर ही व्यय हो जाता है। बिंब को बदलने के लिए प्रतिबिंब के तथाकथित आत्मीय वलय से बाहर निकलकर सामाजिक संघर्ष के सरोकारों को समझने की जरूरत होती है। इस के लिए धैर्य और आत्मनिर्मोचन का साहस प्राथमिक शर्त है। तुरंग-संस्कृति के आत्मग्रस्त समय में यह साहस विरल होता है।

ने पिछले चार-पॉच सौ वर्षों में कुछ कम सफलता नहीं अर्जित की है। बावजूद इसके, ये सफलताएँ त्यौहार का तर्क नहीं बना पाईं। कुछ-एक उपलब्धियों की याद बनाये रखने के लिए हमने कुछ-एक राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय 'दिवस' मनाये जाने की परंपरा के विकास की कोशिश अवश्य की है। मगर सच तो यह है कि इन 'दिवसों' का भी पालन कर्मकांड ही होता है, चाहे वह स्वतंत्रता दिवस हो या गणतंत्र दिवस, शहीद दिवस हो या महिला दिवस। ये दिवस हमारे त्यौहार नहीं बन पाये हैं। कहीं ऐसा तो नहीं कि हमारा 'हम' ही नहीं बचा हो? कहीं ऐसा तो नहीं कि नये युग के आने के बाद भी हमारा नया 'हम' बना ही नहीं हो? और जो अर्द्धनिर्मित नया 'हम' हमारे

पास है उसके लिए पुराने त्यौहारों का कोई तर्क बचा नहीं है और नये त्यौहारों का कोई तर्क बन नहीं पा रहा है। त्यौहार हीन यह जीवन सपनों के पुनर्भव होने का एहसास कहाँ से पाये?

त्यौहार तो बाजार के तर्क से बचे हुए हैं। जीवन के तर्क पर मनाये जानेवाले गाँव-जवार स्तर के बहुत सारे लोक त्यौहार मिटते चले जा रहे हैं क्योंकि उनका कोई तर्क बचा नहीं, और नये त्यौहारों का सिलसिला चला नहीं क्योंकि उनका कोई तर्क बना नहीं। मैं फिर सोचता हूँ – त्यौहार कितने मन का होता है! गरीबी और महगी की दैनंदिनी के बोझ के नीचे दबे गृहस्थ का मन कितने मन का होता है!